श्री प्रेमचन्द्जी की कृतियाँ

उपन्यास

१. प्रतिज्ञा—(दूसरी आवृत्ति) ... ... १॥)
२. कायाकल्प—(" ") ... ... ३)
३. ग़बन— ... ... ३)
४. कर्मभूमि ... ... ३)
५. गो-दान ... ... ४)

कहानियाँ

६. प्रेरणा ... ... १)
७. मानसरोवर : १... ... ... २॥)
८. मानसरोवर : २... ... ... २॥)
९. प्रेमप्रतिमा ... ... २)

नाटक

१० प्रेम की वेदी ... ... ॥।)

सभी प्रतिष्ठित पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्य

सरस्वती-प्रेस, बनारस ।

पंचलोक

लेखक

जगदीशचंद्रदेव

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस सिटी

प्रथम	दिसम्बर	मूल्य
संस्करण	१९३१	आठ आने

समर्पण

पूज्यवर

राय साहब बाबू बंशीलालाजी

(बाढ़, पटना)

के

चरणारविंद

में—

—जगदीश

अपनी बात

वर्तमान हिन्दी-संसार में जिधर देखिए, सभी अपनी कहानियाँ सुना रहे हैं। सचमुच आजकल कहानियों का बाजार गर्म है। एक प्रकार से यह कहानियों का ही युग है। युग के प्रवाह में बहते हुए मेरे मित्र श्रीयुत जगदीशचन्द्रदेवजी ने प्रस्तुत कहानियाँ लिखी हैं। प्रथम प्रयास होने पर भी कहानी-लेखन में उन्हें सफलता मिली है। कहानियाँ किस कोटि की हैं, यह कहानी के पढ़नेवालों को स्वतः ज्ञात हो

जायगा। देवजी के विषय में कुछ अधिक कहना, शायद मेरे लिए उचित नहीं। पक्षपात के दोषारोपण का भय है। क्या करूँ, मित्रता की बात ठहरी।

ख़ैर, उधर मुझे देवजी के साथ लगभग एक साल रहने का सुअवसर मिला था। अवकाश के समय घंटों बातें होती थीं। अवकाश का समय कोई विशेष निश्चित नहीं रहता। जब पढ़ने-लिखने से तबीयत ऊब जाती, तब हम दोनों की बातें होने लगतीं। विषय कोई ठीक नहीं रहता। जब जैसा मोका होता, तब तैसी बातें होतीं। कभी सामाजिक, कभी राजनीतिक, कभी साहित्यिक। कभी-कभी वार्त्तालाप बिना किसी परिणाम के ही समाप्त हो जाता।

मुझे दिन तो ठीक याद नहीं; पर इतना तो अवश्य ही स्मरण है कि रात के ग्यारह बज रहे थे। चारों ओर सन्नाटा था। कमरे में बिजली की रोशनी जगमगा रही थी। ठीक नहीं कह सकता, उस समय कौन-सी बातें हो रही थीं; पर उसी समय मेरे मित्र जगदीशजी ने कहा—भाई पाण्डेय! हँसना मत, देखो

मैंने भी तुम्हारी देखा-देखी एक कहानी लिखी है। मैंने कहा—सुनाओ भाई! देवजी ने 'चना जोर गरम' शीर्षक कहानी सुनाई।

मैं तो दंग रह गया। मेरे भाई 'सुधांशु'जी भी पास ही में अपने बिस्तरे पर बैठे बड़े ही भाव से कहानी सुन रहे थे। बीच-बीच में वाह! वाह!! कह उठते थे। उनकी 'वाह-वाह' में प्रोत्साहन की ध्वनि गूँज उठती थी। मैंने कहा—वाह भाई! खूब छिपे रुस्तम निकले। अब तक चुपकी क्यों साधे बैठे थे? यार! तुम्हारे 'चना जोर गरम' से तो मेरे मुँह में पानी भर आया। चटपटा है! कुछ और भी है!

देवजी ने कहा—इधर मैंने दो-तीन कहानियाँ लिख डाली हैं। फिर मैंने कहा—एक और पढ़ो। बला से रात अधिक हो गई, सोना ही तो है। देवजी ने फिर 'आग लगे बरि जाना है'—शीर्षक कहानी पढ़ी। कहानी सुनते-सुनते उस उदासी-भरी आधी रात में मेरा भी जी उदास हो आया! मैंने कहा—भाई, सचमुच यह संसार क्षणभंगुर है! अन्त में सबको

उसी के स्वर-में-स्वर मिलाकर जाना ही पड़ेगा—'यह संसार झाड़ औ' झाँखर आग लगे बरि जाना है।'

हिन्दी-प्रेमियों से निवेदन है कि वे भी ज़रा 'पंच-लोक' की यात्रा करें। फिर देखें, कहाँ आनन्द है, और कहाँ क्रन्दन ; कहाँ हर्ष है, कहाँ विषाद ; कहाँ दिन है, कहाँ रात ; कहाँ सम्पत्ति है, और कहाँ विपत्ति ?

काशी,
वसंत पंचमी, १९८६ — पाण्डेय अवधविहारी
(हिन्दी-भूषण)

मेरी कहानी

जब मैं कभी कहानियों की पुस्तकें पढ़ता, तो मेरे हृदय में ये भावनाएँ उठतीं, कि क्या मैं कहानी नहीं लिख सकता ! ये लहरें उठतीं, और शीघ्र ही विलीन भी हो जातीं। यद्यपि ये भावनाएँ निश्चितरूप से हृदय-मंदिर में निष्क्रियावस्था में पड़ी हुई थीं, तथापि उन्हें जागरित करने का आज तक कोई विशेष अवसर प्राप्त नहीं होने के कारण, जहाँ-की-तहाँ वे पड़ी रहीं।

भगवान् की अव्यक्त प्रेरणा से मैं धीरे-धीरे हिंदी के सुलेखक श्रीयुत लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' तथा श्रीयुत पाण्डेय अवधबिहारीजी से अच्छी तरह परिचित ही नहीं हो गया, अपितु बिलकुल उन लोगों की मण्डली में मिल भी गया। अवकाश के समय घण्टों

तरह-तरह की बातें हुआ करती थीं। एक दिन मैंने एक कहानी लिखकर उन महानुभावों को संकोच से दिखलाई; क्योंकि मैं अपने को इस योग्य नहीं समझता था कि मैं कहानी के महत्त्व को समझ सकूँ, तथा प्रकाशरूप में उसे सामने रख सकूँ। मेरी कहानी उन महानुभावों को खूब पसन्द आई। आप लोगों ने मुझे कहानी लिखने में विशेष प्रोत्साहन ही नहीं दिया; किन्तु जोर देकर कई कहानियाँ भी लिखवाईं। उनके ही विशेष आग्रह तथा प्रेरणा से मुझे आगे बढ़ने का साहस हुआ, और 'पंचलोक' के रूप में यह पुस्तक समाप्त हुई। कहानियाँ कैसी हुई हैं, इसका भार मैं विज्ञ पाठकों के ऊपर ही छोड़ता हूँ। पाण्डेय अवध-बिहारीजी ने मित्र-भाव से इसकी एक भूमिका—अपनी बात—लिख दी है। इस कृपा के लिये मैं आपका कृतज्ञ तथा आभारी हूँ।

मैंने जो कुछ लिखा था, अपने को अयोग्य समझकर हिंदी-संसार के सम्मुख रखते हुए भय तथा संकोच होता था; किन्तु प्रत्येक साहित्य-सेवी का साहित्य-

मंदिर में सरस्वती-समाराधना का समान अधिकार है, यह जानकर मैं भी कुछ उत्साहित हुआ। साथ ही, श्रीयुत लक्ष्मीनारायणसिंहजी 'सुधांशु' के विशेष प्रेमाग्रहपूर्ण प्रोत्साहन से ही यह पुस्तक 'पंचलोक' के रूप में प्रकाशित हो रही है। उनके ही उत्साहित करने पर मैं एक बृहत् मौलिक उपन्यास भी लिख रहा हूँ। मैं किन शब्दों में—मुझको उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे हैं—उनको धन्यवाद दूँ! उन्होंने ही अनेक अमूल्य सत्परामर्शों से मुझे कृतार्थ किया, तथा साथ ही इसका संपादन भी किया है, जिसके लिए मैं सदा अनुगृहीत रहूँगा।

यदि हिंदी-साहित्य-संसार ने मेरी इस क्षुद्र भेंट को अपनाकर प्रोत्साहन दिया, तो शीघ्र ही अनतिदूर भविष्यत् में उसकी सेवा में उपस्थित होने का अहो-भाग्य प्राप्त कर सकूँगा।

बाढ़, पटना
माघ-पूर्णिमा १९८६ संवत्

जगदीशचन्द्रदेव

चना जोर गरम

१

"कहाँ गई थी बेटी ? बाहर मत जाया करो। घर ही पर रहकर खेला करो। भगवान् ने तुम्हारी माँग के सिन्दूर को धो डाला। न मालूम कौन-से पाप हम और तुमने किये थे बेटी, जो इस प्रकार इस उम्र में यह दुःख उठाना पड़ रहा है। किस तरह से हमारी और तुम्हारी जिन्दगी कटेगी।"—ऐसा कहकर वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। सरला भी अपनी माँ को रोती देखकर उसका आँचल पकड़कर चिल्ला-कर रोने लगी। कोई सान्त्वना देनेवाला नहीं, कोई

ाढ़स देनेवाला नहीं। थोड़ी देर बाद भाग्य को कोसती हुई वह चुप हो गई, साथ ही सरला भी। सरला के गुलाबी गालों पर आँसू की धाराएँ झलक रही थीं।

२

सरला की उम्र सात-आठ साल की है। वह नहीं समझती कि माँ क्यों बाहर जाने से रोकती है। उसने हिम्मत करके माँ से पूछा—क्यों अम्मा, मैं बाहर क्यों न जाऊँ? गुलाबी मुझसे बहुत बड़ी है! वह तो बाहर जाती है, और चना जोर गरम वाले से चने लाती है।

"बेटी! बेटी!! उसमें और तुम में बहुत अंतर है। उसके भाई हैं, बाप हैं, सब से बढ़कर तो वह सौभाग्यवती है। उसे कोई कुछ नहीं कह सकता।" विशेष कातर-स्वर में वह कहने लगी—बेटी! मेरे साथ तुम भी विधवा हो। मैं ही डायन हूँ, खोटी हूँ, जो तुम्हारे सुख को खा गई हूँ। बेटी, मेरी उम्र तो किसी तरह दुःख से कट गई, तुम्हारी क्या अवस्था होगी!

सरला माँ के मुख की ओर देखती थी; पर अर्थ को कुछ न समझती। इसी बीच में बाहर से आवाज़ आई—'चना जोर गरम प्यारे, चना जोर गरम !'

सरला बाहर दौड़ पड़ी और चने माँगने लगी। चने वाले ने सरला को देखकर कहा—अच्छी ! माँ से पैसे माँग ला, तब दूँगा।

सरला की आँखों में आँसू छलक उठे। उसने चनेवाले की धोती पकड़कर कहा—माँ के पास पैसे नहीं हैं।

चनेवाले ने कुछ हताश सा होकर कहा—नहीं बेटी, पैसे ले आ। तीन-चार पैसे का तो मैं मुफ्त दे चुका। चनेवाले ने सरला की ओर स्वाभाविक दृष्टि से देखकर कहा—न मालूम क्यों तुमको देखकर मुझे दया आ जाती है।

सरला धोती को खींचती हुई बोली—अच्छा चलो, मैं माँ से पैसे दिला दूँ। आँगन में जाकर उसने सरला की माँ से कहा—यह लड़की चने माँगती है, पैसे दो, तो दे दूँ।

सरला की माँ का कलेजा सिहर उठा। पास पैसा नहीं और सरला चने माँगती है! उस पर भी तुर्रा यह कि फेरीवाला मकान के भीतर चला आया! लोग कहीं बदनाम न करें। विधवाओं को, और हम-ऐसे दुखियों को सताना तो यहाँ वालों का धर्म-सा हो गया है—ऐसा सोचती हुई सरला की माँ फिर सिसकने लगी। चनेवाले का हृदय भी उसकी दयनीय अवस्था देख कर द्रवीभूत हो गया। वह सरला को चने देकर चल दिया। इसी प्रकार वह चने लेकर प्रतिदिन आता, और सरला को देकर चला जाता।

३

बाहर शोर-गुल हो रहा था; अरे, यही चने-वाला उसके घर आया-जाया करता है। पकड़ो! पकड़ो!! मारो! मारो!!

चनेवाला भय से भाग गया, फिर उस ग्राम में कभी नहीं आया। पंचायत बैठी। उसमें निश्चित हुआ कि मुसम्मात को जाति से बहिष्कृत किया जाय

और सब धन जप्त कर लिया जाय। यह कुलटा हो गई है। डायन है!

उस गरीब विधवा पर वज्र गिर पड़ा। अब कोई सहारा न रहा। किसी तरह से कूट-पीस कर मजूरी से दोनों माँ-बेटी दिन काटतीं। इस पर भी ग्राम वाले शान्त नहीं रहते। हर तरह से सताते। मजदूरी कराते, फिर भी मजूरी नहीं देते। विधवा अपने भाग्य पर संतोष कर सरला की ओर देखकर जीवन बिता रही थी।

देखते-देखते सात वर्ष बीत गये। अब सरला युवती हो गई। अब वह यौवन के मद से मदमाती होकर वैधव्य का अर्थ समझने लगी। विधवा और समाज का अंतर उसे मालूम पड़ने लगा। अपनी-सी वयसवाली युवतियों को आनन्द-विहार करते देख-कर अपनी दशा से उसे समस्त संसार शून्य और अश्रुमय देख पड़ता। हृदय में सदा अग्नि धधकती रहती। वह दिन-दिन क्षीण पड़ने लगी। माँ के सिवा कोई देखनेवाला, सुननेवाला नहीं था। वह अबला करे,

तो क्या करे। सच है, दुखियों का कोई सहारा नहीं होता। यौवन का वह दुर्दम्य उत्पीड़न! और वैधव्य में अपनी लालसा का सर्वनाश! सरला को चारों ओर काँटे-ही-काँटे नज़र आते।

४

सरला की माँ दिन-रात शोक-सागर में डूबी रहती। अपनी प्रिय पुत्री की दशा उससे देखी नहीं जाती। अब असह्य हो गया। देवी-देवताओं से सरला की भलाई के लिए प्रार्थना करती, मन्नतें मानती। यहाँ तक कि अपने जीवन को अर्पित करने के लिए भी प्रस्तुत रहती; परन्तु ये प्रार्थनाएँ, ये मन्नतें, बालू से तैल निचोड़ने के सदृश्य हुईं। सरला की माँ अपनी पुत्री के असह्य दुःख को न देख सकने के कारण ज्वर से ग्रसित हो गई। ज्वर का वेग क्रमशः बढ़ता ही गया। विचारी सरला माँ की सेवा-शुश्रूषा में दिन-रात नहीं समझती। अन्त में सरला की माँ ने सरला को छोड़कर इस दुखद तथा असार संसार को भी छोड़ दिया। सरला अपनी माँ की मृत्यु को

देख न सकी। वह भी पगली की तरह अनाप-शनाप बकते-बकते मूर्च्छित हो जमीन पर गिर पड़ी !

कोई रोनेवाला नहीं ; शव ले जानेवाला भी नहीं। सरला अचेत पड़ी थी ; ग्राम वाले खुशियाँ मना रहे थे। अच्छा हुआ, राँड चली गई, बड़ी पापिन थी, बड़ी कुलटा थी।

५

सरला थोड़ी देर बाद सचेत हुई। वह उठते ही माँ-माँ चिल्लाने लगी। पर माँ कहाँ! माँ को हिलाया-डुलाया ; फिर भी वह नहीं बोली। निदान मूर्च्छित समझ पानी का छींटा दिया। माँ के हृदय को देखा, धुकधुकी नहीं थी; नाड़ी को देखा, गति नहीं थी ! वह अवाक् और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

इसी समय 'चना जोर गरम वाला' सरला की माँ की मृत्यु का समाचार सुन चार-पाँच आदमी लिए आ पहुँचा। सब से प्रथम सरला की सेवा-शुश्रूषा करने लगा, और-और मनुष्यों को शव-संस्कार के लिए भेज दिया।

सरला एक घंटा पश्चात् माँ-माँ कहती उठी ; पर एक अपरिचित मनुष्य को सेवा करते देखकर कुछ सकुचा गई ; भयभीत-सी हो गई और बोली—तुम कौन हो, जो मेरी सेवा कर रहे हो ? बताओ, मेरी माँ कहाँ है ?

बेटी, तुम मुझे नहीं पहचानतीं ? मैं वही 'चना जोर गरम वाला हूँ, जिससे तुम चना माँग-माँगकर खाती थीं। भय न करो बेटी ! मेरे कारण तुम्हें और तुम्हारी माँ को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। चलो, बेटी मेरे घर पर रहना।

वह उसे अपने घर ले गया और अपनी कन्या के समान लाड़-प्यार से रखने लगा। विवाह की व्यवस्था भी उसने की ; परन्तु सरला ने यह स्वीकार नहीं किया और ईश्वर-भजन में वह अपने दिन बिताने लगी।

अब भी वह सरला से प्यार में पूछता—बेटी, 'चना जोर गरम' नहीं लोगी ?

सरला लज्जा से आँखें नीची कर लेती।

आग लगे बरि जाना है

१

संध्या का समय है। आकाश का रंग लाल-पीला पके फल-सा यत्र-तत्र दिखलाई पड़ रहा है। गोधूलि उस अद्भुत फल की प्राप्ति के लिए ऊपर की ओर अग्रसर हो रही है। इसी समय सोना रोजाना मजूरी लेकर अपनी कुटिया को जाते समय प्रसन्न होकर बीच-बीच में यह मधुर तान छेड़ बैठता है—"यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।"

मालूम नहीं उसको पूरा पद याद था, या नहीं, या इतने का ही गूढ़ रहस्य संसार को सुनाता था। वह फिर इस अद्भुत् तथा अलौकिक रस का छींटा—'यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है'—दे ही रहा था कि उसी समय कोई स्वर-में-स्वर मिलाकर गा बैठा—"आग लगे बरि जाना है।"

सोना उत्सुकता-पूर्ण दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा; पर कुछ पता न पाया कि किधर से यह आवाज आई है। वह द्रुत-गति से अपनी कुटिया को जाने लगा। पहुँचते ही वह वही मधुर पद गा बैठा—"यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।"

२

सोना अछूत है; क्योंकि वह जाति का चमार है। सोना का मुख सदा प्रसन्न देख पड़ता है। वह प्राप्तःकाल उठता है, संध्या को छः आने पैसे मजूरी के पाकर, प्रसन्न हो घर लौट आता है। उसे किसी बात की चिंता नहीं है; केवल एक-मात्र प्यारो लड़की सुखिया की चिन्ता है। जब वह मजदूरी पर से लौटता,

तब सुखिया सोना से पैसे लेकर भोजन का प्रबंध करती। कभी-कभी सोना बाजार से सौदा खरीद कर साथ भी ले आता। उधर सुखिया रसोई बनाती और इधर सोना सुखिया के भविष्य की चिंता करने लग जाता।

सुखिया सयानी हो चली। पास पैसे नहीं। सुखिया का विवाह शीघ्र करना चाहिये, नहीं तो पास-पड़ोस के क्या कहेंगे। अभी ही तो सब ताने देते हैं कि सोना ने अपनी सयानी लड़की को घर में बिठा रखा है। अधिक और कुछ हुआ, तो कहीं बिरादरी वाले जाति से बाहर न कर दें। खैर, मेरा तो कुछ न बिगड़ेगा; मेरी एक-मात्र जीवन की आशा, हृदय का सहारा सुखिया है, उसकी क्या गति होगी!

३

सुखिया की अवस्था चौदह साल की पूरी हो गई है। लोग उसकी रूपराशि तथा सौंदर्य को देख आश्चर्य करते कि चमार के घर में लड़की नहीं पैदा हुई है,

बल्कि साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हुआ है! उसकी बड़ी-बड़ी आँखें, लाल-लाल गाल किसको नहीं अपनी ओर आर्षित कर लेते।

सुखिया के सौंदर्य की प्रशंसा चारों ओर फैल चुकी थी। कुछ बदमाश-गुंडे झोंपड़ी के सामने सुखिया को असत्य मार्ग पर लाने के लिए तीखी नजर से घूरा करते थे; परन्तु सुखिया बहुत ही नेक और पवित्र थी। कभी भूलकर भी वह उन लोगों की ओर आँखें नहीं उठाती। अक्षरों को जोड़-जाड़ करके अवकाश के समय सदा रामायण की चौपाइयाँ ही पढ़ा करती। इससे बदमाश गुंडे सदा क्रिश्चियन मिशन की उपदेशिकाओं से बिगड़ते; क्योंकि वेही कभी-कभी आकर सुखिया को हिंदी पढ़ा जाती थीं; और ईशु भगवान का गुणगान सुनाया करती थीं। परन्तु, सुखिया के मनमें हिन्दू-धर्म का संस्कार बना था। वह अपने को पतित-पावन सीताराम की भक्तिन समझती, तथा सीताराम का नाम लेने में अपना गौरव मानती थी।

इतना ही नहीं, गाँव के ठाकुर रामदयालसिंह की उसपर विशेष कृपा थी। उन्होंने आज्ञा दे रखी थी, कि जो सुखिया को तंग करेगा, उसकी अच्छी खबर ली जायगी। वे उदार विचार के हैं। गरीबों की सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद नहीं मानते। इसी विचार के कारण उन्हें अनेक कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ीं; परन्तु वे अपनी दृढ़ता पर अटल रहे, और अंत तक गरीबों का साथ देते रहे।

४

ग्यारह बजे रात का समय है। सभी जीव-जन्तु विश्राम कर रहे हैं; परन्तु ठाकुर रामदयालसिंह के भाई ठाकुर राजकिशोरसिंह तथा गाँव के और कई सज्जन तथा बदमाश एकान्त में बैठ गुछ गुप्त-मंत्रणा कर रहे हैं। कौन-सी बात थी, यह नहीं कहा जा सकता; पर बात-चीत के आभास से ज्ञात हुआ कि ठाकुर रामदयालसिंह के विषय में कुछ हो रहा था।

ठाकुर राजकिशोरसिंह धीरे-धीरे कह रहे थे—भाई,

अनर्थ हो रहा है। धर्म का नाश हो जायगा। मुझको विश्वस्तसूत्र से पता लगा है कि मेरा छोटा भाई रामदयाल उस सोनुआ की लड़की सुखिया से प्रेम करता है।

इसी बीच कुछ बदमाश कह उठे—हाँ, सरकार, ठीक बात है, तभी तो बाबू साहब उस पर कड़ा पहरा रखते हैं, जिससे सोनुआ से तथा उसकी लड़की से बेगारी नहीं ली जाय। दूसरा कोई होता, तो उससे तथा उस कसबी से ऐसा काम लेते कि उसकी सभी पढ़ाई-लिखाई निकल जाती। इतना ही नहीं, सरकार, यह आज्ञा दे रखी है कि कोई उससे कुछ कहे नहीं, न उसके घर के सामने जाय। बाप-रेबाप ! न मालूम वह किस इन्द्रलोक की अप्सरा है, जो मनुष्यों की छाया पड़ते ही खराब हो जायगी।

यह सुनते ही, सभी चिल्ला उठे—गजब हो गया ! सरकार, धर्म्म का नाश हो जायगा ! और आपकी बड़ी भारी बे-इज्जती हो जायगी, यदि कहीं बाबू साहब ने उस वेश्या को अपने घर में रख लिया ! और-तो-और, वह जात की भी तो चमारिन है !

क्या उपाय किया जाय। इसी विचार में थे कि कोई बोल उठा—अच्छा हो कि रात ही में उसके घर में आग लगा दी जाय, जिससे दोनों जलकर भस्म हो जायँ 'न रहे बाँस न बाजे बाँसुरी' कहते हुए वह अपना दुस्साहस दिखा कर चला गया।

५

साँय-साँय करती हुई अग्नि-ज्वाला की भभक सुनाई पड़ने लगी। कोई चिल्ला रहा था—'दौड़ो, दौड़ो, सोना के घर में किसी दुष्ट ने आग लगा दी है। दौड़ो भाई, दौड़ो!

बिचारा सोना गहरी नींद में पड़ा था। अग्नि की ज्वाला की धधक से घबड़ाकर उठा और देखा कि अग्नि चारों ओर फैल चुकी है। सुखिया के ख्याल ने उसके हृदय को व्याकुल कर दिया। इसी घबड़ाहट में चिल्लाते हुए सुखिया को बचाने के लिए दौड़ा।

आग की लपटें चारों ओर लहरा रही थीं। अग्नि की धधक सहते हुए, लटपटाते हुए सुखिया जहाँ पर सोती थी वहाँ पहुँचा। वहाँ देखता क्या है कि ठाकुर

रामदयालसिंह सुखिया को उठाकर बाहर करने को हैं। इसी समय छप्पर के बंधन जल जाने से समूचा छप्पर ही उन तीनों पर गिर पड़ा! बाहर निकलना बिलकुल ही असम्भव हो गया। आग की लपट ने अपने आँचल में तीनों को छिपा लिया, और बड़ी भयंकर आवाज़ से वह धधकने लगा, मानो कह रहा था—'यह संसार झाड़ और झाँकर आग लगे बरि जाना है।'

उद्धार

१

मैं किसी कार्यवश दिल्ली जा रहा था। जब मैं ट्रेन से आगरा पहुँचा, तो मेरी अभिलाषा ताजमहल देखने की हुई। मैं वहीं उतर गया, और स्टेशन से बाहर आकर एक ताँगेवाले से धर्मशाला तक ले जाने को कहा। ताँगेवाले ने धर्मशाला के सामने मुझे पहुँचा दिया। उसे किराया देकर मैं भीतर गया और जमादार से कहकर एक कमरे में सामान रखा। मैंने सोचा कि स्नान-भोजन करके ताजमहल देखने जाऊँगा; इसलिए मैं पानी की कल पर जल लेने गया। वहाँ क्या देखता हूँ कि एक अति सुंदरी युवती

घड़ा लेकर जल लेने आई है। युवती की अवस्था कठिनता से सत्रह वर्ष की होगी। यद्यपि उसकी रूप-राशि से यौवन के साथ ही सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा था, तथापि उसके मुख-मंडल की ओर ध्यान से देखने पर ऐसा ज्ञात होता, मानो ग्रीष्म के तीव्र ताप से कोई कोमल कुसुम मुरझा गया हो। मैंने उस युवती को पैर से सिर तक ध्यान से देखा। ज्यों-ज्यों मैं ध्यान से देखता गया, त्यों-त्यों मेरे हृदय में शंका उत्पन्न होने लगी। उसकी रहन-सहन से ऐसा ज्ञात होता कि वह युवती वहाँ की नहीं है; पूर्व की ओर की रहनेवाली है। मैंने साहस करते हुए युवती से पूछा—मैं तुमसे कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ। क्या तुम उत्तर दे सकती हो?

प्रथम तो वह संकोच से कुछ न बोली; परन्तु मेरे फिर पूछने पर, हल्के संकोच से, दबती हुई बोली—आप मुझ दुखिया से क्या प्रश्न करेंगे! मेरी कहानी बड़ी ही दुखमयी है, हृदय को व्यथित कर देनेवाली है। आप भी मेरे ही देश के रहनेवाले

मालूम होते हैं। आपको देखकर मुझे विश्वास होता है कि मेरी बुरी अवस्था को सुनकर आप अवश्य ही पापमय जीवन से मेरा उद्धार करेंगे? क्या इसी धर्म-शाले में आप ठहरे हुए हैं? मैं आपसे थोड़ी देर बाद मिलूँगी, और आपकी शंका को दूर करूँगी।

यह कहकर वह युवती चली गई। मैं उसकी सरलता पर मुग्ध था। मेरा हृदय उसकी कहानी सुनने के लिए अधीर हो रहा था। थोड़ी देर बाद वह युवती मेरे समीप आई। आते ही वह बोली—क्या आप पटना की ओर के रहनेवाले हैं?

मैंने कहा—हाँ।

उस युवती ने भी मेरी बात का समर्थन करते हुए कहा—मैं भी उधर ही की हूँ? यदि आप मुझसे घृणा नहीं करें, तो मैं अपनी कहानी कहूँ।

यह कहकर वह सिसकने लगी। मैंने उसको विश्वास दिलाया, तथा सान्त्वना देते हुए दुःखमय जीवन से उबारने की प्रतिज्ञा की। वह युवती कातर शब्दों में अपनी कहानी सुनाने लगी।

२

गंगा के तट पर उमानाथ महादेव का एक विशाल मंदिर है। बगल में ही कई बरगद के पुराने वृक्ष हैं, जिनकी शाखाओं पर पक्षीगण अठखेलियाँ करते, किलोलें करते, तथा भक्तों के हृदय में, अपनी मोदभरी सुरीली स्वरावली से, आनंद का संचार करते। गंगा-तट से मंदिर जाने के लिए अति सुंदर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। स्नान करनेवाले वहाँ स्नान करते और जल-पात्र में पवित्र गंगा-जल लेकर मंदिर में चले जाते। ग्रीष्म-ऋतु में प्रातःकाल और संध्या-समय वायु-सेवनार्थी वहाँ पर आते। गंगा के तट की अनुपम प्राकृतिक छटा का आनंद लूटते और कुछ देर मधुर कलकल-स्वर सुनकर मुदित होकर अपने-अपने घर को चले जाते। आजकल ही की तरह शरद्-ऋतु थी। पवित्र कार्त्तिक का महीना था। वायु सेव-नार्थियों का स्थान कार्त्तिक-स्नानवालों ने ले रखा था। सीढ़ियों पर सदा चहल-पहल बनी रहती थी। ब्राह्ममुहूर्त से ही कोई स्नान की तैयारी में रहता, कोई

स्नान करता, कोई स्नान कर ईश्वर की आराधना करता, और अधिक संख्या में विशेष कर स्त्रियाँ कार्तिक-माहात्म्य की कथा सुनतीं थीं।

मैं भी कार्तिक-स्नान करती थी। मैं ऊषा के आगमन के प्रथम ही उठती तथा बगल में साड़ी, हाथ में एक लोटा और फूलसाजी लेकर गंगा-स्नान करने वहीं जाती थी। मैं चुपचाप पुनीत पावन गंगा में स्नान करती और लोटे में जल ले लेती तथा विल्व-पत्र, पुष्प, चंदनादि लेकर मंदिर में पूजनार्थ जाती थी और अपने घर सूर्योदय के पहले ही लौट आती थी। मैंने कभी कथा सुनने की ओर ध्यान नहीं दिया। मेरी इच्छा ही न होती थी। बीच में मैंने छेड़ते हुए पूछा—तुम कथा क्यों नहीं सुनती थीं ?

वह उत्तर देती हुई बोली—मैं जानती थी कि कार्तिक-स्नान करनेवालों के लिये कथा-श्रवण करना धर्म है ; परन्तु स्त्री होते हुए भी मैं बिलकुल पुराने विचार की न थी। कारण, मेरे पिता ने मेरी शिक्षा के लिए काफ़ी ध्यान दिया था। इससे मैं कोई काम करती,

तो सोच-विचार लेती थी। मैं प्रातःकाल का स्नान स्वास्थ्य-वर्द्धक समझ कर करती थी तथा माँ के भय से पूजा-पाठ का सामान भी साथ ले जाती थी; क्योंकि मैं समझती थी कि इससे माँ मेरे स्नान में कोई बाधा नहीं डालेंगी। दूसरी स्त्रियों की तरह माँ इन सब बातों की ओर विशेष अनुराग रखतीं। स्त्रियाँ स्वभाव से ही सरल होती हैं। पर्व, त्यौहार तथा इसी प्रकार के उत्सव के दिनों में अधिक भाग लेती हैं। साधु-सन्त, ब्राह्मण को श्रद्धा तथा भक्ति से पूजती हैं।

मेरे साथ मेरी और कई सखियाँ स्नान करने जाती थीं; परन्तु वे कथा-श्रवण करने को वहीं रह जाती थीं। एक दिन एक सखी मेरे घर पर आई और माँ के सम्मुख ही बोली—बहन! तुम तो स्नान-पूजा करती ही हो, तो कथा क्यों नहीं सुन लिया करतीं, क्या कथा सुनना बुरा है? मेरे उत्तर देने के पहले ही मेरी माँ भिभकती हुई बोलीं—ऐ रमा, यह तुम्हारी कौन-सी चाल है कि तुम कथा नहीं सुनतीं? तुमको

कार्तिक-स्नान का क्या फल होगा ! मुझको अन्धकार में सूझता ही नहीं है, नहीं तो मैं भी कार्त्तिक-स्नान करती तथा कथा सुनती। मैंने जब से होश सँभाला, बराबर कार्तिक-स्नान करती और साथ ही कथा भी सुनती थी ; परन्तु आँख निगोड़ी के खराब हो जाने से दो बरस से बन्द है। खबरदार, रमा, कथा नहीं सुनोगी, तो अच्छी बात नहीं होगी।—हाँ मैं एक बात यह कह देना चाहती हूँ कि मेरा पूरा नाम रमा-वती है, पर दुलार के कारण सभी मुझे रमा ही कहते थे।

मेरी माँ बहुत शीघ्र क्रुद्ध हो जाती थीं। इस कारण मैं भय से कुछ न बोली। चुप-चाप सुनती रही। मेरी सखी फिर बोल उठी—कहो रमा ! अब तो कथा सुनोगी न ? मैं धीरे-धीरे बोली—हाँ, सुनूँगी।

दूसरे दिन मैं भी कथा सुनने सखी के साथ बैठ गई। पंडितजी सिंहासन पर पलथी लगाये बैठे थे। अवस्था तीस-पैंतीस वर्ष की होगी। सिर पर बहुत

बड़ा पग्गड़ बाँधे रहते थे, शरीर पर बन्ददार मिर्जई। सामने पत्राकार कार्तिक-माहात्म्य की पुस्तक रखी हुई थी। धूप जल रही थी। कुछ नैवेद्य भी पुष्प-पत्र के साथ रखा हुआ था। पण्डितजी के सामने स्त्रियाँ बैठी हुई कथा-श्रवण कर रही थीं। यद्यपि कई अन्य युवतियाँ भी कथा सुन रही थीं, तथापि पण्डितजी का ध्यान मेरी ओर अधिक आकर्षित होता। मैं उस समय नहीं समझ सकती थी कि क्यों पण्डितजी मेरी ओर अधिक दृष्टिपात करते हैं। मैं सोचती थी, शायद आज पहले-पहल आई हूँ, इसलिए नई यजमानिन समझकर देखते हैं, या किसी और विचार से, या मेरी सुन्दरता से आकृष्ट होकर देखते होंगे; क्योंकि मैं ही सबसे अधिक रूपवती वहाँ थी। पण्डितजी जब कभी दूसरी ओर दृष्टि फेरते, तब भी तिरछी नजरों से मेरी ओर देखते ही रहते। मुझको पंडितजी के इस बर्ताव पर क्रोध आ रहा था; पर संकोच-वश कुछ बोलती नहीं थी। मैं अपनी दृष्टि को नीचा कर लेती थी।

जब कभी शृंगार-रस की वार्त्ता आती, तो पंडितजी अच्छी तरह से, हाथ के संकेतों से समझाते तथा उसके अर्थ पर जोर देते थे। कथा का अन्त हुआ। आरती हुई। पंडितजी ने सभी स्त्रियों को टीका लगाया तथा थोड़ा-थोड़ा प्रसाद बाँटा। मुझको भी टीका लगाया और प्रसाद देते हुए बोले—यजमानिन! तुम आज आठवें दिन कथा सुनने आई हो। यदि तुम कार्त्तिक-माहात्म्य का पूरा फल लेना चाहती हो, तो मेरे स्थान पर आठ दिनों का भोजन दक्षिणा-सहित संध्या काल में दे जाओ; अन्यथा पूर्ण फल नहीं होगा। सुनती हो, यजमानिन! मेरी बातों को न भूलना।

मैं दूसरे दिन कथा में नहीं जाना चाहती थी; परन्तु सखियों के आग्रह तथा माँ के भय से दूसरे दिन भी कथा-श्रवण करने बैठ गई। पंडितजी की तिरछी नजरें मेरी ओर पड़ने लगीं। अब मैं भी कभी-कभी उनकी आँखों से आँखें मिलाती; परन्तु संकोच में आकर शीघ्र फेर लेती। आज फिर भी

पंडितजी ने जाते समय वही प्रश्न किया—क्यों, यजमानिन ! कल भोजन देना भूल गई ! आज मैं स्वयं तुम्हारे घर पर प्रसादी लेकर पहुँचूँगा। मैं पंडितजी की इस धृष्टता पर भीतर-ही-भीतर कुढ़ रही थी ; पर प्रकाश-रूप से कुछ नहीं बोली।

मैं घर पर पहुँची। पंडितजी के व्यवहार पर मुझे क्षोभ हुआ। बहुत-कुछ खरी-खोटी सुनाने का निश्चय किया ; पर यह विचार कर शांत हो गई कि पंडितजी की ओर मैं अब कभी ध्यान ही न दूँगी। वे क्या करेंगे !

संध्या हुई। पंडितजी गृह-द्वार पर आकर यजमानिन, यजमानिन चिल्लाने लगे। मैं पंडितजी की इस नीचता पर बड़ी रंजीदा हुई। मेरी माँ ने पंडितजी की आवाज सुनकर मुझसे पूछा—कौन पुकार रहा है ? मैं उत्तर देती हुई बोली—वही पंडितजी हैं, जो कार्तिक-माहात्म्य की कथा बाँचते हैं। मुझसे सीधा लेने आये हैं। मैंने अपनी माँ की आज्ञा से द्वार खोल दिया। पंडितजी धड़ल्ले के साथ घर के भीतर आ गये। मुझे और मेरी माँ को

आशीर्वाद देते हुए हाथों में तुलसीदल थमाया। मेरी माँ ने बड़े सत्कार से आसन पर बैठने को उनसे कहा। पंडितजी आसन पर विराज गये और ब्राह्मण की सेवा करने के फल का उपदेश देने लगे। इसके पश्चात् पंडितजी मेरी ओर देखकर बोले—यह बचिया बड़ी भाग्यवती होगी। मुख-मंडल से तेज निकल रहा है! अशुभ-ग्रह के किंचित् प्रभाव से कुछ कष्ट है। थोड़ा-सा अनुष्ठान करा देने से ग्रह बिलकुल शांत हो जायगा। तुम्हारी हस्त-रेखा देखूँ बचिया!

मैंने संकोच-भरे नयनों से उन्हें देखा। भाग्यफल जानने की प्रबल अभिलाषा ने लज्जा की लगाम को तोड़ दिया। मैंने धीरे-धीरे पंडितजी की ओर अपना हाथ बढ़ाया। पंडितजी फल सुनाने लगे। मेरी माँ भी बड़ी उत्सुकता से मेरे विषय में पूछ रही थीं। मैं अविवाहिता थी। मेरी माँ बार-बार विवाह-संबंधी बातें पूछने लगीं। कब विवाह होगा, कैसा वर मिलेगा, आदि। यद्यपि मैं इन बातों को सुनकर भीतर-ही-भीतर हृदय से प्रसन्न होती थी, तथापि बाह्यरूप से

ऐसा भाव दिखाती कि मानो मैं इस विषय से पूर्ण उदासीन हूँ।

कभी-कभी मैं माँ से कह देती कि जाओ मैं अपना हाथ नहीं दिखाऊँगी।

जैसे-जैसे पंडितजी मेरे विवाह-संबंधी बातें करते, वैसे-वैसे मैं सतृष्ण नेत्रों से उत्कंठित होकर उनकी ओर देखती, पंडितजी तो अविराम मेरी ओर अतृप्त नयनों से देखते रहते तथा हस्त-रेखा देखते समय मेरी हथेली को धीरे से अँगुलियों से दबा देते। एक तो भाग्यफल जानने की उत्कट अभिलाषा से, दूसरे यौवन के पारस्परिक आकर्षण से मैं कुछ नहीं बोलती। प्रतिवाद की इच्छा रहने पर भी न मालूम कौन मेरा मुख बंद कर देता था। मुझे एक प्रकार के अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होता। ऐसा ज्ञात होता, जैसे मैं किसी दूसरे संसार में विचरण कर रही हूँ। थोड़ी देर बाद पंडितजी मेरी माँ से बोले—यजमानिन! मैं जिस कारण यहाँ आया हूँ, वह तो आपको ज्ञात ही है। यदि शीघ्रता करें, तो अच्छा हो; क्योंकि पूजा का

समय हो गया है। यजमानिन ! आपकी बच्चिया को अशुभ ग्रह के प्रभाव से कुछ कष्ट है । उसकी शांति के लिए अनुष्ठान अवश्य करावें । मुझसे या और किसी पंडित से, जिससे आपका परिचय हो। मेरी माँ ने कहा—महाराज, आपसे श्रेष्ठ और कौन पंडित मिलेगा। आपही अनुष्ठान करें। दक्षिणा पूरी दूँगी । इसके लिए आप तनिक भी चिंता नहीं करें।

पंडितजी ने कहा—कल ही शुभ दिन है। कल से यहीं आकर अनुष्ठान आरंभ करूँगा।

इतना कहकर पंडितजी भोजन-व्यय तथा दक्षिणा लेकर चल दिये। पंडितजी के चले जाने पर, न-मालूम क्यों, मुझे वियोग-वेदना होने लगी। मेरे लिए अब संसार सूना हो गया। मन में सोचती—पंडितजी अवश्य मुझसे प्रेम करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं कि पंडित होकर दूसरे की बहू-बेटी से अनुचित प्रेम करें। यह अक्षम्य है। मैं कभी उनसे प्रेम नहीं कर सकती। मैं स्वप्न में भी पंडितजी का ध्यान न करूँगी। मैं इसी तरह की उल्टी-सीधी लहरों में प्रवाहित होती रहती।

आते दिन मैं फिर कथा-श्रवण करने गई। आज न-मालूम क्यों, पंडितजी के शब्द-शब्द में जादू भरा मालूम होता था। आँखों में सुधा-रस का भंडार मालूम होता, जिसके पान से मैं अघाती नहीं थी। अपने इस परिवर्त्तन पर मुझे बड़ा विस्मय होने लगा।

संध्या हुई। पंडितजी मेरे घर पर आये और अनुष्ठान-जप आदि करके चले गये। अब मुझे पंडितजी के हरएक काम में आनंद मिलता, सुख का अनुभव होता। मैं अब उनकी प्रशंसा करती। एक क्षण भी उन्हें देखे बिना मन व्याकुल तथा अधीर हो जाता।

जैसे-जैसे संध्या होती, वैसे-वैसे पंडितजी को देखने की प्रबल तथा अदमनीय अभिलाषा बढ़ती जाती। यहाँ तक कि मैं बिलकुल अधीर हो जाती। जब तक पंडितजी नहीं जाते, तब तक मैं सरस नेत्रों से देखती रहती। उनके चले जाने पर मैं पगली-सी हो जाती। अपने पागलपन को सबसे छिपाती थी।

होते-होते इसी तरह कार्तिक-पूर्णिमा आ पहुँची। आज ही अनुष्ठान का अंत था। पंडितजी अब मुझसे

खूब परिचित हो गये थे। एकान्त होनेपर प्रेम की बातें करते और मैं भी प्रेम से बातें करती। एक को दूसरे के बिना असह्य वेदना होती। पंडितजी ने मुझसे एक दिन कहा—रमा! कल से कैसे प्रणय-व्यापार चलेगा। अब तो तुम्हारा दर्शन नहीं होगा। तुम्हारे दर्शन बिना मैं पागल हो जाऊँगा।

मैं भी मुस्कुराती हुई बोली—मेरी तो आपसे भी बढ़कर बुरी दशा होगी। पंडितजी ने कहा—रमा! तुम्हारा और मेरा प्रेम सच्चा है। हम दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते; इसलिए मेरी अभिलाषा है कि हम दोनों चुपके से आज रात को निकल चलें।

मैं सरल, भोली-भाली बाला थी। संसार का कुछ अनुभव नहीं था। मैं उस धूर्त, पाखंडी पंडित के जाल में फँस गई। वह और मैं चुपके से रात को निकल गये। दोनों स्टेशन पर पहुँचे और रेल-द्वारा आगरे आ गये। दो मास तक वह पाखंडी चैन के साथ मेरे साथ रहा। यहीं पर वह कथा बाँचता था।

कथा-समाप्ति पर एक दिन वह मुझको अकेली छोड़कर चला गया। मैं उसको अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। उसी दुष्ट ने मुझको माँ-बाप से छुड़ाया। उसके चले जाने पर मैं हताश हो गई। बिलकुल आश्रयहीन हो गई। चुपचाप रोती रहती, और अपने किये कर्म पर पश्चात्ताप करती थी। जहाँ मैं रहती थी, उसके बगल में ही एक बुड्ढी रहती थी। वह मुझको रोती देखकर आई। वह समझाती, धैर्य देती तथा पूरी सहानुभूति दिखलाती। वह कहती—बेटी! मेरे घर पर चलो। मुझको और कोई नहीं है। मैं तुमको बेटी की तरह रखूँगी और प्यार करूँगी। मैं भी अपने को निरावलंब देख उस बुड्ढी के घर पर चली गई! दूसरे दिन जब कि मैं सोई हुई थी, एक अधेड़ जवान आया और मेरे साथ अनुचित बर्ताव करना चाहा। मैं चिल्लाई; पर किसी ने न सुना। वह मनुष्य मेरे इस व्यवहार पर बिगड़ा और कहने लगा—शोरगुल क्यों मचाती हो? क्या मैं मुफ्त में आया हूँ।

उसने मुझे हाथों से दबाया। मुझको उसके पाशविक बल से हार खानी पड़ी। मैं लाचार थी। एक बार पतन हो जाने पर फिर पतन होता ही जाता है।

मुझको अच्छी तरह ज्ञात हो गया, कि बुड्ढो कुटनी है। उसका यही व्यवसाय था। मैं इस नारकीय जीवन से छुटकारा पाने की सदा चेष्टा करती रहती; परन्तु वह बुड्ढी मुझपर सदा कड़ी निगाह रखती थी। अब एक नहीं, कई पुरुष मेरे पास आने लगे। मेरा संकोच जाता रहा। जीवन-निर्वाह का और कोई आधार न देखकर यही स्वीकार करना पड़ा। दो दिन से वह पापिन बुड्ढी बीमार है। मैं जल लेने के लिए यहाँ आया करती हूँ।

दया कर मुझ पतिता का इस पापमय जीवन से उद्धार करें।— यह कहकर वह रोने लगी।

मैंने सांत्वना देते हुए उसके पिता का नाम पूछा—उसने 'बाबू विजयकुमार' बतलाया। मैं नाम सुनते ही अवाक् तथा निस्तेज हो गया! यह मेरे अनन्य मित्र हैं। मैंने रुककर उससे पूछा—

क्या अपने पिता के यहाँ चल सकती हो?

वह बोली—कौन मुँह लेकर मैं उनके पास जाऊँगी। वे मुझे घर पर नहीं रख सकते।

मैंने कहा—मान लो, तुम्हारे पिता प्यार से ले जायँ, तब तो जाओगी?

उत्तर देते हुए युवती बोली—भला मैं पिता की आज्ञा कब टाल सकती हूँ?

३

मैंने विजयकुमार के नाम तार भेजा—

Urgent need, come sharp (आवश्यक काम है, शीघ्र आओ।)

वह दूसरे ही दिन संध्या को आगरे पहुँचे। लगभग दो वर्ष से मैं उनसे कई झंझटों के कारण नहीं मिला था। उनके मुख-मंडल में बहुत परिवर्तन हो गया था। यद्यपि वह मुझसे उम्र में अधिक बड़े थे तथापि वह समवयस्कों की तरह सहर्ष मिलते और बातें करते। वह बड़े ही मिलनसार थे। आज देखने से ऐसा ज्ञात होता, जैसे वह बड़ी विपत्ति में पड़े हों।

मैंने उनसे अपना तथा घर का कुशल-समाचार पूछा और साथ ही उनकी पुत्री रमावती का।

विजयकुमार करुण स्वर में कहने लगे—भाई! मैं क्या अपना कुशल सुनाऊँ! किसी तरह से दिन व्यतीत हो रहे हैं। जब से मेरी प्रिय पुत्री को वह चांडाल पंडित बहकाकर ले गया, तब से मैं पागल-सा हो गया हूँ। मुझे और था ही कौन रमावती के सिवा? इसी वर्ष मैंने उसके विवाह का निश्चय किया था; पर मेरी अभिलाषा पूर्ण होने के पहले ही मुँह में कालिख पुत गई। मेरी सब आशाओं पर पानी फिर गया। अब मैं कहीं का न रहा। मैंने उसकी खोज में चारों ओर समाचार भेजे। आदमी दौड़ाए; पर कहीं पता न लगा। अच्छा भाई! कहो, तुमने किस लिए मुझे बुलाया है?

मैंने कहा—मैं थोड़ी देर के बाद कहूँगा; पर मैं आपसे पूछता हूँ, कि मान लीजिये 'रमावती' मिल जाय, तो आप उसे आश्रय देंगे या नहीं?

विजयकुमार थोड़ी देर चुप रह कर बोले—भाई ! मेरा बहिष्कार हो, इससे भी अधिक कष्ट हो ; पर अपनी प्रिय पुत्री को गले लगाऊँगा। उस बेचारी का क्या अपराध ! सब खुराफात तो उस दुष्ट पंडित की थी। भाई ! हिन्दुओं का भी विचित्र समाज है। अपने घर के मनुष्यों के साथ परदा है ; परन्तु इन पोंगापंथियों के लिए कुछ नहीं। यदि वह शठ मेरे घर पर नहीं आता-जाता, तो कभी मुझको यह कठोर परिणाम न सहना पड़ता।

मैं वहाँ से उठा और 'रमावती' को बुलाकर ले आया। वह अपने पिता को देखते ही भय से काँपने लगी ; परन्तु पितृ-प्रेम के कारण शीघ्र ही पिता के पैरों पर गिर गई और रोने लगी। पिता भी वात्सल्य-प्रेम से रोने लगे।

दृश्य बहुत ही करुणाजनक था। मैं थोड़ी देर तक चुपचाप देखता रहा। दोनों चुप हुए। एक दूसरे ने अपनी-अपनी दुखद कहानियाँ सुनाईं। उसी

रात पिता और पुत्री घर चल दिये। मैं अपनी यात्रा के सिलसिले में आगे बढ़ गया।

❀ ❀ ❀

वृद्ध-समाज में कुहराम मच गया। अरे! विजय-कुमार बहिष्कृता पुत्री को घर ले आये। युवक-दल अधिकतर सहानुभूति दिखलाता तथा विजयकुमार के इस प्रशंसनीय साहस पर बधाई देता। विजय-कुमार अब बहुत प्रसन्न रहते थे। उनको ऐसा आभास होता, मानो बहुत बड़ा आदर्श उन्होंने समाज के सम्मुख रख दिया है। वह अपनी पुत्री के विवाह के लिए चेष्टा करने लगे। 'सर्चलाइट' और 'लीडर' में विवाह-विज्ञापन छपाये गये। 'वर उदार हृदय का चाहिए' बस यही एक बंधन रखा गया। कई उम्मीदवारों के निवेदन-पत्र पहुँचे। रमावती से वर पसन्द करने को कहा गया; पर उसने दृढ़ निश्चय से मेरी ओर संकेत किया। विजयकुमार ने भी पुत्री से सहमत होकर उत्साह तथा आनन्द के साथ विवाह कर दिया। मेरी प्रतिज्ञा थी, कि मैं किसी बाल-विधवा

या बहिष्कृता बालिका से विवाह करूँगा। प्रतिज्ञा के पूर्ण होने से मैं प्रसन्न हूँ, उधर रमा भी। साथ ही विजयकुमार भी आनंद से फूले नहीं समाते।

मूक प्रेम

१

ललितमोहन सीधा-सादा युवक है। अवस्था लग-भग २० वर्ष की होगी। यद्यपि उसका बदन गठा हुआ है, तथापि वह बहुत सुन्दर नहीं कहा जा सकता। वह नित्य-प्रति प्रातःकाल उठता और वायु-सेवनार्थ बाहर निकल पड़ता। एक घड़ी दिन होने के पश्चात् घर लौट आता! उसकी, दिन-भर की दिन-चर्य्या क्या थी, यह नहीं मालूम; पर यह मैं कह सकता हूँ कि वह पत्र-पत्रिकाओं का शौकीन था; उन्हें वह सदा पढ़ा करता था। एक क्षण भी उनके बिना नहीं रह सकता था।

लोग उसे काहिल कहते थे ; पर वह अपने को ऐसा नहीं समझता । किसी से मिलता-जुलता नहीं ; एकान्त में रहना पसन्द करता और अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान् नहीं, तो मूर्ख भी नहीं समझता । पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ते रहने से उसके हृदय में भावों की बाढ़-सी आ गई थी । कभी वह कवि बनकर, अलौकिक सौन्दर्य की तान छेड़कर, संसार को मुग्ध कर देना चाहता ; कभी अपने बहुमूल्य शब्द-मुक्ताओं से ललित लेख-माला पिरोकर सबको चकित कर देना चाहता ; कभी अपनी प्रतिभा से औपन्यासिक सम्राट् बनकर लोक में धाक जमा देना चाहता ; कभी गामा पहलवान बनकर कलियुगी भीम बनने का दम भरता ; कभी सुप्रसिद्ध तैराक बनकर इंगलिश चैनल पार कर वाह-वाही लूटना चाहता । इसी तरह की अपनी कल्पनाओं की उड़ान को कार्य में परिणत कर संसार-मात्र को आश्चर्यान्वित एवम् चकित कर देना चाहता ; पर जिस तरह छिछले ताल में असंख्य हंसों के तैरने से जल में बुदबुदे उठते और शीघ्र विलीन हो

जाते हैं, उसी तरह ललितमोहन के हृदय में भावों की अधिकता से कल्पनाओं के बुदबुदे उठते थे और तत्काल ही विनष्ट हो जाते थे। बस, इसी उधेड़-बुन में वह बहा करता था।

२

कल विजयादशमी है। हिन्दूमात्र—क्या दरिद्र, क्या धनी सभी—अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार महामाया शक्ति की अर्चना के निमित्त तथा विजयोल्लास मनाने के लिए तैयारी कर रहे हैं। सभी हृदय से प्रफुल्लित हैं; परन्तु ललितमोहन को न किसी बात की चिन्ता है और न कोई उल्लास। हाँ, इतना विचार रखा है कि कल ऊषा का आगमन होने पर वायु-सेवनार्थ मन्दाकिनी के तट पर विचरण किया जाय और किसी शुभ कार्य में हाथ डाला जाय। अपनी बुद्धि से, बल से किसी-न-किसी कला में पारंगत होना चाहिए। बस, इसी विचार में दिन-भर मग्न रहा कि किस कार्य का श्रीगणेश किया जाय। कल विजयादशमी है। विजयादशमी पर

आरंभ किया हुआ कार्य अवश्य फलीभूत होता है ; ऐसा उसका विश्वास था।

रात बीत गई ; पर कोई कार्य निश्चित न कर सका। वृक्षों पर बैठी चिड़ियाँ चुचुहाहट के साथ तरह-तरह के राग-रागनियाँ गा-गाकर सुनाने लगीं। ललित मोहन ने देखा, प्रकृति लाल साड़ी पहन चुकी है। ललितमोहन का मुख-मण्डल प्रकृति के सुन्दर राग की आभा के पड़ने से अनुरागमय हो रहा था। वह ऊषा की ललित लालिमा को भेद करता हुआ कल-कल निनादिनी सुरसरि के तट पर पहुँचा।

वह पत्थर की सीढ़ी पर बैठ गया और सतृष्ण नयनों से प्रभाकर की स्वर्ण-रश्मि से सिंचित पीत जल को एक-टक देखने लगा। सहसा उसकी दृष्टि, अनुपम सौन्दर्यमयी सद्यःस्नाता एक बाला पर पड़ी। उसके हृदय में प्रणय-शूल का उद्रेक होने लगा। उसने अतृप्त नयनों को दूसरी दिशा की ओर फेरना चाहा ; परन्तु वह असफल रहा। ऐसा अनुभव होता था, मानो ब्रह्मा समस्त सौन्दर्य-राशि को

एकत्र कर अपनी कला की प्रदर्शिनी करा रहा हो। उसी विचार में वह मग्न था कि वह सुन्दरी अपने गृह की ओर चली। वह पुलकित नयनों से तब तक दृष्टिपात करता रहा; जब तक वह दृष्टि-पथ से बाहर नहीं हो गई।

सुन्दरी के साथ ही ललितमोहन की चेतना भी जाती रही। वह अचेतन-सा बैठा रहा। उसे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलाई पड़ने लगा।

प्रकृति-छटा के पड़ने से स्वर्णमय जल स्फटिक रूप में परिणत हो चुका था। चेत होने पर उसने नवोज्ज्वल सुरसरिता की धारा की ओर फिर दृष्टिपात किया। अब फिर वह विचार-धारा में डूब गया। वह सोचने लगा—क्या कारण है कि गंगाजल स्वर्ण से रजत बन गया। कहीं उसी सुन्दरी के कनक-रूप की छटा से तो मन्दाकिनी का पुनीत जल कंचनमय नहीं हो गया था? क्या वह पारस-मणि थी, जो अपने स्पर्श से सबको कंचन बना देती है। ठीक है, ठीक है, वह पारस-मणि ही है। मैं ऐसी पारस-मणि

को अवश्य प्राप्त करने की प्राणपण से चेष्टा करूँगा। एकान्त में मिलने पर अपना प्रेम-संदेश सुनाऊँगा। प्रार्थना से, विनय से, जैसे होगा मनाऊँगा। अगर नहीं स्वीकार करेगी, तो मैं उसके सामने बलि-वेदी पर आत्म-समर्पण करूँगा।

३

अब ललितमोहन वायु-सेवनार्थ न जाकर गंगा-स्नानार्थ जाने लगा। सुन्दरी भी प्रतिदिन वहीं स्नान करती। ललितमोहन तब तक स्नान करता रहता, जब तक वह सुन्दरी घर को नहीं लौट जाती। वह उस के सौन्दर्य-सुधा का पान करते नहीं अघाता। कभी वह पानी में उछलता, कभी कूदता, कभी खूब तैरता और साथ ही तिरछी नजरों से उसे देखता। उछलने-कूदने का कारण तो साफ था कि वह सुंदरी उसकी ओर मुड़कर देखे। और, तैरने का यह कि ललितमोहन तैरने की कला में भी प्रवीण है—यह वह समझ ले। उसे विश्वास था कि स्त्री पुरुष के किसी-न-किसी गुण पर आकर्षित होती है। सुन्दर तथा आकर्षक मुख

होना प्रधान है; परन्तु इसमें अपने को हीन समझ-कर वह तैरने में प्रवीणता दिखलाने लगा।

अब वह बन-ठनकर भी जाने लगा। कभी-कभी जब ललितमोहन की दृष्टि सुन्दरी की दृष्टि से मिल जाती, तो वह अपने को धन्य समझता और सोचता कि वह अवश्य मुझे प्रेम-भरी दृष्टि से देखती है; परन्तु ऐसे विचारों का अन्त होते-होते संयोग-वश सुंदरी अपनी दृष्टि फेर लेती। यह नहीं कह सकते कि सुन्दरी सचमुच प्रेम-भरी दृष्टि से उसे देखती थी, या नहीं। युवकों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे किसी भी सुन्दरी के दृष्टि-मिलन-संयोग को प्रणय की आरम्भिक सूचना मान बैठते हैं। यह उनकी मानसिक निर्बलता है।

४

आज ललितमोहन सुन्दरी की स्वर्णमयी आभा पड़ने से आलोकित है। हृदय में उल्लास है, आनन्द है। बात यह है कि ललितमोहन को आशा ही नहीं, विश्वास है कि सुन्दरी अवश्य ही मुझसे प्रेम करती

है, तभी तो तिरछी निगाहों से मेरी ओर देखती है। आज उसने संकल्प किया कि मैं अवश्य उससे एकान्त में मिलूँगा ; इसलिए उसने गंगातट से पहले ही प्रस्थान कर दिया, और एकान्त पथ पर बैठकर सुन्दरी की प्रतीक्षा करने लगा। वह कल्पना का पुल बाँधने लगा कि इस तरह प्रेम-सन्देश सुनाऊँगा, यह कहूँगा, वह कहूँगा। जहाँ कोई स्त्री आती दिखाई पड़ती, कि वह अधीर-सा हो जाता तथा सोचने लगता, हो-न-हो वही सुन्दरी देवी है, जिसकी मैं प्रेम-पूजा चढ़ाऊँगा। पर, समीप आने पर दूसरी स्त्री के देखते ही हताश हो जाता। उस समय उसे एक क्षण युग-युग-सा मालूम होता।

अहा! इस बार वही देवी है। मेरी देवी है। प्रणय-संदेश सुनाऊँगा। हे भगवान्, कोई इस समय आने न पावे। अरे, अरे, वह तो पहुँच गई, किस प्रकार संदेश सुनाऊँ, कहीं बुरा न मान बैठे, नहीं तो सड़क पर मेरी पूजा हो जाय। हृदय धड़कने लगा। हाय भगवान्, वह तो आगे निकल गई!

इसी तरह वह प्रतिदिन प्रतीक्षा किया करता और उसके चले जाने पर पश्चात्ताप करता रहता। क्या कारण है, जब सामने आती है तब देखने की तथा प्रणय-संदेश सुनाने की अटल अभिलाषा होने पर भी देखने के समय देख नहीं सकता और जब वह उपस्थित नहीं रहती तो विना उसे देखे प्राण व्याकुल हो जाते हैं। यह सोचकर धैर्य्य रखता कि अच्छा आज नहीं, कल अवश्य देखूँगा तथा संदेश सुनाऊँगा ; परन्तु अवसर आने पर वही अधीरता, वही घबड़ाहट, वही पछतावा बना रहता। इसी तरह वह उसके प्रेम में पागल रहता और प्रतिदिन अनन्त प्रतीक्षा किया करता।

५

ललितमोहन घर पर पहुँचता, तो ऐसा अनुभव होता कि मानो उस सुन्दरी का सौंदर्य्य मस्तिष्क में चक्कर दे रहा है। खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते सदा उसी के ध्यान में मग्न रहता। अब उसको पत्र-पत्रिकाओं से कम शौक है। अब उसे उस सुन्दरी के

सिवा संसार में कुछ नहीं दृष्टिगोचर होता। उसे अपने एकांगीय प्रेम से ही संतोष करना पड़ता। दुस्साहस करने की हिम्मत उसे कभी न हुई।

मन बहलाने के लिए वह कभी-कभी प्रेम पर कविता लिखा करता। बार-बार असफल होने पर भी उसे घोर निराशा कभी न हुई। अपनी निराशा के भीतर भी उसे एक आशा की क्षीण रेखा दिखाई पड़ती थी। प्रेम पर कविताएँ लिख-लिखकर शून्य आकाश को सुनाता, और फिर उन्हें फाड़ डालता। कविताएँ लिखकर भी वह कवि-सम्राट् बनना नहीं चाहता। सौंदर्य्य-संगीत को गाकर भी वह जगत्-प्रसिद्ध गायक नहीं बनना चाहता। उसे अपनी परि-मित अवस्था में ही सुख था, आनंद था।

लोगों के मुख से उसने सुंदरी का नाम देवहूति सुन रखा था। बस, हृदय-मंदिर की अधिष्ठात्री देवी की निराकार प्रतिष्ठा तो वह कभी से कर चुका था, अब एक साकार प्रतिमा भी उसने बना डाली। इसी को अपनी कविताएँ सुनाकर प्रसन्न हो जाता।

गंगा-तट की ओर जाना प्रायः बंद-सा हो गया। इसी में वह ऐसा तल्लीन रहता कि बाह्य जगत् की ओर शायद ही उसका ध्यान आकर्षित होता। वही उसकी छोटी-सी दुनिया थी, जिसे पाकर वह निहाल था। निराशा का नाम न था। पूर्ण संतोष था।

पागल

१

अजीब कहानी है तुम्हारी यार !

कैसी कहानी भाई ?

वही तुम्हारे पागलपन की। सुनता हूँ, तुम वीणा लेकर घंटों नहीं, पहरों जंगल में जाकर बजाया करते हो !

तो इसमें कौन-सा पागलपन है ? क्या वीणा बजाना कोई पाप है ; या तुमको गायन-वादन से प्रेम ही नहीं ? भाई ! बुरा न मानना, जिस मनुष्य को संगीत से प्रेम नहीं है, वह मनुष्य मनुष्य नहीं,

वरन् पशु से भी हीन है। तुमने तानसेन की कथा नहीं सुनी ? जब वह वीणा की लय में मधुर संगीत छेड़ते, तब पशु-पक्षी तक मुग्ध हो जाते थे। संगीत का प्रभाव हृदय पर शीघ्र पड़ता है। ऐसा अनुभव होता है, मानो स्वर्ग के अलौकिक आनन्द से साक्षात्कार हो रहा हो। इसकी प्रशंसा में तो..........

बीच में रोकते हुए युगलकिशोर बोला— भाई ! मैं तुमसे दलील नहीं कर सकता। मुझको भी संगीत से प्रेम है; पर तुम्हारी तरह नहीं, कि जंगल में जाकर वीणा बजाया करूँ। वहाँ पर नाना प्रकार के हिंसक जन्तु रहा करते हैं। जरा इसका भी तो भय रखो। मित्र के नाते तुमसे मैं विनय करता हूँ कि अब जंगल का जाना छोड़कर घर पर ही अपनी सुरीली तान छेड़ा करो।

तुम क्या जानोगे संगीत का रहस्य—यह कहकर रामचरण कुछ खिन्न-सा होकर चल दिया।

२

रामचरण संगीत के प्रेम में पागल रहा करता था। वीणा से उसे विशेष प्रेम है। उसके विचार से वाद्य-यंत्रों में वीणा शिरोमणि है। वह अपने को वर्तमान समय का तानसेन समझता, और अपनी वीणा-द्वारा संसार को नया संदेश सुनाना चाहता था। उसको विश्वास था कि संगीत का आनंद मनुष्य तो उठा लेते हैं; किन्तु जीव-जन्तु उसके नैसर्गिक आनंद को नहीं पाते। पर रामचरण की बुद्धि ने प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश नहीं किया था। उसे नहीं मालूम था कि प्रकृति की रग-रग में संगीत का नाद भरा हुआ है। वायु के झोंकों में, समुद्र की लहरों में, सरिता के कलकल में, निर्झरणी के झरझर में, वृक्ष की पत्तियों के मर्मर में, पशुओं की बोलियों में, पक्षियों की चुहचुहावट में, कहाँ तक कहा जाय, यहाँ तक कि ज्वालामुखी की धधक में भी संगीत का नाद भरा पड़ा है; परंतु सबके रहस्यों को समझने के लिये एक ही हृदय पर्याप्त नहीं है।

३

रामचरण नित्य-प्रति वीणा लेकर जंगल जाता और पशु-पक्षियों को संगीत सुनाता। उसको विश्वास था कि मेरे संगीत-नाद को सुनकर पशु-पक्षी हृदय से आनन्दित होते होंगे। मालूम नहीं, वे संगीत-नाद को सुनकर प्रसन्न होते थे या नहीं, ईश्वर ही जानें। परन्तु एक काषाय-वस्त्रधारिणी प्रौढ़ा स्त्री वीणा के तारों की झनकारों को सुनकर एक शिला पर आ बैठती थी। उसके मुख-मंडल से सूर्य का-सा तेज निकलता रहता था। आज तक रामचरण की दृष्टि उस देवी पर नहीं पड़ी थी। कारण, वह वीणा बजाने में इतना मस्त रहता, कि उसकी दृष्टि ही इधर-उधर नहीं जाती। आज सहसा उसकी दृष्टि देवी पर पड़ गई। पर उसकी दृष्टि क्षण-मात्र भी नहीं ठहरी। उसके हृदय में आनन्द-विस्मय-मिश्रित गुदगुदी होने लगी। उसने समझा कि मेरे अलौकिक संगीत-स्वर को सुनकर स्वर्ग की देवी प्रसन्न होकर वर देने को आई हैं।

रामचरण घबड़ाकर उठा तथा देवी के समीप जाकर उसके पैरों पर गिर पड़ा और बोला—देवि! प्रसन्न होकर वर दो, कि मैं संसार के हर एक जीव को संगीत का संदेश सुना सकूँ।

देवी ने कहा—वत्स! मै तुम्हारी अभिलाषा को समझ गई। तुम संगीत का संदेश सुनाने के पूर्ण अधिकारी हो; किन्तु जब तक तुम परतन्त्र तथा पराधीन हो, तब तक तुम्हारे गुण का कोई आदर नहीं करेगा; इसलिए तुम स्वतंत्रता का सुमधुर संगीत घर-घर जाकर सुनाओ। संभव है, तुम्हें इस पावन कठोर व्रत के पालन करने में तरह-तरह की कठिनाइयाँ उठानी पड़ें; तरह-तरह के रोड़े तुम्हारे पथ पर बिछाये जायँ, फिर भी कष्ट सहते हुए अपने संकल्प से विमुख मत होना। स्वतंत्रता देवी रक्त की प्यासी हैं। रक्त की धारा से जो संगीत-स्वर निकलेगा, वही स्वतन्त्रता की घोषणा होगी। अन्त में, विजय-संगीत की मधुर झंकार सुनाई पड़ेगी। तब उसमें देखोगे, कितना रस है,

कितना मंगल है, कितना मोद है, कितना आनन्द तथा उल्लास है।

इतना कहकर देवी अन्तर्द्धान हो गई। रामचरण ताकता ही रह गया!

४

रामचरण अब वीणा नहीं बजाता। वह स्वतंत्रता की लहरों में सदा बहा करता है। खाने-पीने की भी सुधि नहीं रखता। पहनने के लिए सर्फ अँगोछा लपेटता, तथा शरीर पर एक छोटी-सी चादर रखता है। अब वह तपस्वी हो गया है। लोग उसे तपस्वी कहते हैं। वह दुखियों के दुःख दूर करने के लिए सदा तत्पर रहता और घर-घर स्वतंत्रता का संदेश सुनाता है। कोई उसे ईश्वर का अवतार मानता है, कोई पैगम्बर, कोई महात्मा, कोई देश का कमाण्डर, कोई दुखियों का सहायक। शायद ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो उसके गुण से मोहित होकर प्रशंसा न करता हो। युगल-किशोर भी अपने मित्र के इस महान् त्याग के लिए प्रशंसा करते नही अघाता तथा सदा दत्तचित्त होकर

उसके संदेश का प्रचार करता है। रामचरण अपने मित्र की इस सहृदयता का कायल था। उसे अपना सच्चा सहायक मानता और बिना उसकी सम्मति के कुछ नहीं करता था।

देखते-देखते कई वर्ष बीत गये। रामचरण स्वतंत्रता के भँवर में इस तरह डूबा कि अब वह पागल-सा हो गया है। सदा स्वतंत्रता-स्वतंत्रता चिल्लाता है। स्वतंत्रता की लहर उसके हृदय से उठती और वायु-मंडल में विलीन हो जाती है। उसमें कोई कार्य करने की शक्ति नहीं रही है। उसका शरीर बिलकुल कृश तथा क्षीण हो गया है। प्रचार का भार उसके मित्र युगल-किशोर ने ले लिया है। वह चातक की तरह स्वतंत्रता की ओर दृष्टि लगाये रहता है। देखें, कब स्वतंत्रता देवी प्रसन्न होती है और उसकी समाधि टूटती है।

वार्षिक मूल्य ६) एक अंक का दस आना